मनु शर्मा

कृष्ण की आत्मकथा

|| लाक्षागृह ||

प्रभात

कृष्ण की आत्मकथा-४

लाक्षागृह

मनु शर्मा

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

आत्मकथ्य

मैं नियति के तेज वाहन पर सवार था। सबकुछ मुझसे पीछे छूटता जा रहा था। वृंदावन और मथुरा, राधा और कुब्जा—सबकुछ मार्ग के वृक्ष की तरह छूट गए थे। केवल उनकी स्मृतियाँ मेरे मन से लिपटी रह गई थीं। कभी-कभी वर्तमान की धूल उन्हें ऐसा घेर लेती है कि वे उनसे निकल नहीं पाती थीं। मैं अतीत से कटा हुआ केवल वर्तमान का भोक्ता रह जाता।

माना कि भविष्य कुछ नहीं है; वह वर्तमान की कल्पना है, मेरी आकांक्षाओं का चित्र है—और यह वह है, जिसे मैंने अभी तक पाया नहीं है, इसलिए मैं उसे एक आदर्श मानता हूँ। आदर्श कभी पाया नहीं जाता। जब तक मैं उसके निकट पहुँचता हूँ, हाथ मारता हूँ तब तक हाथ में आने के पहले ही झटककर और आगे चला जाता है। एक लुभावनी मरीचिका के पीछे दौड़ना भर रह जाता है।

इसलिए अतीत के अनुभव पर वर्तमान जिन सपनों को गढ़ता है, वही हमारा भविष्य है—और हम उसके पीछे भागते जाते हैं, भागते जाते हैं तथा रह जाता है छटपटाहट भरा असंतुष्ट वर्तमान। शायद यह असंतोष न रहता तो जीवन सारहीन हो जाता।

एक

मेरे राज्याभिषेक ने एक नए विश्वास को जन्म दिया। वस्तुतः शासन करने के लिए यादव वंश शापित था। हमारे एक महान् यशस्वी पूर्वजन ययाति ने अपने सबसे बड़े पुत्र यदु को शाप दिया था कि तुम और तुम्हारे वंशज कभी भी शासन नहीं कर सकेंगे। आज तक यदु के वंशज हम यादव उन्हींका शाप ढो रहे थे। यह तो मेरे नानाजी (उग्रसेन) थे, जो यादव सरदारों को लेकर मथुरा का शासन चलाते थे। इस शाप में उनका विश्वास था; यों कहिए, इससे इतने भयभीत थे कि उन्होंने कभी भी अपना विधिवत् राज्यारोहण नहीं होने दिया। वे राजा होकर भी राजा नहीं थे। मात्र यादव सरदारों के प्रधान थे।

यही कारण था कि अपने पुत्र कंस द्वारा बंदी बनाए जाने पर भी उन्होंने कभी उसे दोषी नहीं माना और अपनी बंदी की स्थिति को उस शाप का परिणाम ही समझा। जब कंस ने स्वयं को राजा घोषित किया तो उन्होंने अपने मित्रों से कहा था कि वह भी इस शाप का फल भोगेगा।

इस संदर्भ को एक दिन मैंने रुक्मिणी से छेड़ा।

''तो क्या हम लोगों को भी यह सिंहासन छोड़ देना पड़ेगा?'' वह भी थोड़ी शंकित-सी लगी। उसका सुझाव था कि अभी तो आपके गुरुजी हैं। आप उनसे क्यों नहीं इस विषय पर बातें करते।

मैंने भी यह सुझाव उचित समझा और कई लोगों की उपस्थिति में आचार्य सांदीपनि के समक्ष यह समस्या उठाई। उन्होंने तुरंत कहा, ''मुझे तो यह नहीं लगता कि यादवों को वह शाप लगा होगा।''

''पर मैं समझता हूँ कि कहीं लगे या न लगे, पर मेरे संबंध में तो अवश्य लगा।'' नानाजी बोले।

''आप लोगों ने तो अपने कर्मों का फल भोगा है।'' आचार्यजी ने छूटते ही कहा, ''संसार के सारे शापों से तो हम मुक्त हो सकते हैं; पर जब अपने ही कर्म हमें शापित करते हैं तब हम उनसे मुक्त नहीं हो पाते।''

इस स्पष्ट वक्तव्य से थोड़ी देर के लिए गंभीर मौन छा गया।

किंतु शीघ्र ही आचार्यजी ने पुनः बोलना आरंभ किया—''रह गई यदु के शाप की बात, उसकी आप चिंता न करें; क्योंकि ययाति का दिया शाप वासना के वशीभूत रहा। वह काम-भोग के लिए अपने पुत्र का यौवन चाहता था। पुत्र के यौवन से पिता भोग करे, यह कितनी घृणित बात है! शायद इतिहास में इससे घृणित कर्म का दूसरा उदाहरण न मिले। दूसरे, यदु की तेजस्विता ने उस शाप को स्वयं स्वीकार किया; क्योंकि उसमें समाज का हित था।...यदि प्रभावकारी हुआ भी तो उसकी आयु अधिक नहीं होगी।''

इसके बाद सचमुच हम चिंतामुक्त हो गए। बड़ी शांति से दिन कटने लगे। हम अपनी सैन्य शक्ति बढ़ाते रहे। हमारा शस्त्राभ्यास भी निरंतर चलता रहा। वस्तुतः उन दिनों अच्छा धनुर्धर हुए बिना कोई योद्धा नहीं माना जाता था। अतएव मैंने धनुर्विद्या का अभ्यास जोरों से आरंभ किया। मैं चलते रथ से लक्ष्यवेध करने का अभ्यास करने लगा। गति में होते हुए लक्ष्यवेध करना बड़ा कठिन है, वह भी बाण से। चक्र से तो मैं आसानी से कर सकता था।

फिर धीरे-धीरे मैं अश्व की गति बढ़ाता रहा। पहले एक अश्व से अभ्यास शुरू किया था। फिर बढ़ाते-बढ़ाते चार अश्व की गति तक ले गया। अब मेरे इस अभ्यास को देखने के लिए भीड़ लगने लगी। इन अभ्यासों के समय रुक्मिणी बहुधा मेरे साथ होती।

मेरी स्थिति कुछ विचित्र थी। मेरे बाहर भीड़ एवं रुक्मिणी थी और मेरे भीतर अर्जुन तथा उसकी साधना की एकाग्रता थी। अर्जुन की धनुर्विद्या उन दिनों आर्यावर्त्त में पूर्णता पर पहुँच चुकी थी। उसकी बड़ी ख्याति थी। द्रुपद

को बंदी बनाने के बाद तो उसकी चर्चा घर-घर में होने लगी। इस अभ्यास के मूल में तो मेरा वही आदर्श था। कभी बातों के क्रम में उसका कहा यह वाक्य मुझे सदा याद रहता—'भैया, धनुर्विद्या में मात्र पाँच प्रतिशत गुरु का ज्ञान और पंचानबे प्रतिशत अभ्यास की आवश्यकता होती है।'

'और गुरु का आशीर्वाद! इसका तो तुम्हारी गरिगत में कोई स्थान ही नहीं है।' मैंने मुसकराते हुए कहा था।

वह हँस पड़ा था। बोला, 'गुरु का आशीर्वाद तो सर्वोपरि है। उसके बिना कुछ भी संभव नहीं है।'

अर्जुन के आदर्श पर ही मेरा अभ्यास बढ़ता गया। अब तक मैं चरम गति रहकर स्थिर को लक्ष्य बनाता रहा। अब मैंने गति में रहकर गति पर प्रहार करने का अभ्यास आरंभ किया। उड़ती चिड़ियों को निशाना बनाने लगा। शीघ्र ही मुझे सफलता भी मिलने लगी।

ज्यों ही कोई पक्षी मेरे चलते रथ से चलाए गए बाण से घायल होकर गिरता त्यों ही मेरी बगल में बैठी रुक्मिणी तालियाँ बजाकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करती।

मैंने उत्साह में एक बार कह दिया—"देखा तुमने मेरा कौशल!"

"तुम्हारा ही कौशल तो देखती रही हूँ।" रुक्मिणी बोली, "पहले तुम उड़ते पक्षियों के पंखों पर हल्दी लगाते थे, अब उन्हें घायल करते हो; या जान से ही मार डालते हो।" इसके बाद वह मुसकराते हुए ऐसी इठलाई कि उसका व्यंग्य मेरे वक्ष में तीर की तरह चुभ गया।

उधर भैया और रेवती भाभी का गदाभ्यास भी चलता रहा। उन लोगों ने अपने कई शिष्य भी प्रशिक्षित किए। कई अभ्यासशालाओं की स्थापना भी की। ये शालाएँ केवल गदाभ्यास के लिए ही नहीं थीं वरन् सभी शस्त्रास्त्रों का अभ्यास इनमें होता था। राजधानी का पूरा वातावरण शक्ति अर्जन का केंद्र बन गया था।

बात यह थी कि आर्यावर्त्त का सारा समुद्री व्यापार हमारे पत्तन से होने लगा। हमारी संपन्नता बढ़ती गई। वैभव की तलवार शक्ति के म्यान में ही सुरक्षित रहती है, अन्यथा मौसम का मामूली उतार-चढ़ाव भी उसमें मोरचा लगा देता है। इसीलिए हमारा शक्तिसंपन्न होना नितांत आवश्यक भी था। पुण्यजन और पंचजन हमारे स्थायी शत्रु थे ही। हमारी प्रगति अब औरों की दृष्टि में भी गड़ने लगी। यादव सरदारों के छोकरों का यह प्रभुत्व हमारे मित्रों के लिए भी ईर्ष्या का कारण था। फिर भी सतर्कता, सावधानी और शक्ति-संचय के दिन हमारे लिए बड़ी शांति के थे।

अचानक एक दिन प्रात:काल हस्तिनापुर से विदुरजी का एक चर आया। उसने सूचना दी कि युधिष्ठिर का युवराज पद पर अभिषेक है। आप सादर आमंत्रित हैं।

हम लोग बड़े प्रसन्न हुए। हमने सोचा, चलो अच्छा है। फूफाजी के स्वर्गारोहण के बाद बुआ को एक सहारा तो मिलेगा। साथ ही, युधिष्ठिर के युवराज होने पर हमारी शक्ति बढ़ेगी।

हमारा चिंतन इस स्थिति से उलझा ही था कि नानाजी ने एक राजनीतिक प्रश्न चर से पूछ लिया—"यह निमंत्रण तुम किसकी ओर से लाए हो?"

"महात्मा विदुर की ओर से।"

"युवराज पद के अभिषेक का निमंत्रण महामात्य की ओर से!" नानाजी मुसकराए।

पर चर कुछ नहीं बोला। वस्तुत: यह निमंत्रण महाराज की ओर से होना चाहिए था। हम लोगों ने समझ लिया कि भीतर-ही-भीतर कुछ खौल रहा है। और कुछ जानने के लिए नानाजी ने चर से कई प्रश्न किए; पर वह कुछ नहीं खुला। हर प्रश्न को इधर-उधर करके टालता गया। इससे हमारी शंका को स्पष्ट समर्थन मिला।

हम लोगों ने उस चर के समक्ष अपनी कोई राय व्यक्त नहीं की। यथोचित आवभगत कर उसे बिदा किया।

इस संबंध में दूसरे ही दिन नानाजी ने हम सबसे विशद वार्त्ता की और कहा कि हस्तिनापुर से आया निमंत्रण